International Journal of Scientific Research in Science and Technology
Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X (www.ijsrst.com)
doi : https://doi.org/10.32628/IJSRST2184108

भारतीय लोकतंत्र की गहनता और नागरिकता के सवाल

डॉ० रूपम कुमारी
असिस्टेंट प्रोफेसर (गेस्ट टीचर), राजनीति विज्ञान, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

Article Info
Volume 8, Issue 4
Page Number : 715-722

Publication Issue
July-August-2021

Article History
Accepted : 07 Aug 2021
Published : 14 Aug 2021

ABSTRACT

भारत में नागरिकता जिस तरह से विकसित हो रही है, वह पश्चिमी लोकतंत्रों से अलग है। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दौर से लेकर 1935 के अधिनियम तक औपनिवेशिक शासन में विभिन्न स्तरों पर प्रतिनिधित्व के कई रूप उभरे, पर नागरिकता का दायरा बेहद सीमित ही रहा। उस जमाने में जनता को संप्रभुता के स्रोत के रूप में नहीं देखा जाता था, क्योंकि राज्य की संस्था विदेशी शासकों की जकड़ में थी। जनसाधारण अधीनस्थ प्रजा की तरह ही थे। धीरे–धीरे उन्हें नागरिक अधिकार मिलने शुरु हुए।[1]

'नागरिक' होने का मतलब है कुछ निश्चित अनुलंघनीय अधिकारों का वाहक होना। एक अधिकारसंपन्न नागरिक 'व्यक्ति' से एकदम अलग होता है। अधिकारों के बिना व्यक्ति नागरिक की हैसियत प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही आधुनिकता और पूँजीवाद के विकास के कारण उभरे मूल्यों के तहत वैयक्तियन की प्रक्रिया ने उसे व्यक्ति के रूप में स्थापित कर दिया हो। दुनिया में मुख्यतः पूँजीवादी माहौल ही छाया हुआ है और उसके तहत महज व्यक्ति के रूप में हर इंसान हमेशा अपने हितों की ज्यादा से ज्यादा सिद्धि पर ही जोर देता रहता है। जबकि नागरिक के रूप में अपने सरोकारों या हितों या मूल्यों की प्राप्ति के लिए दूसरे लोगों के साथ सहयोग और गठजोड़ करने की तरफ जाता है और केवल अपना हित–साधन करता ही नहीं रह जाता। नागरिक होने का एक और अहम पहलू है दूसरों के साथ खड़े होने के लिए तैयार रहना और राजसत्ता के इस्तेमाल पर चौकन्नी नजर रखना।[2] इस तरह नागरिकता वह मुख्य धुरी बन जाती है जिस पर लोकतंत्र की गहनता निर्भर करता है।

पश्चिमी समाजों में पूँजीवाद, आधुनिकता और लोकतांत्रिक गतिविधियाँ एक साथ उभरीं। एक तरह के मिले–जुले रूपों में उन्होंने एक–दूसरे को पैदा किया, पुष्ट किया और सीमित किया। यह एक जटिल कहानी है और यहाँ केवल इतना कहना काफी होगा कि पूँजी के विनियोग की आवश्यकता के गर्भ से निजी पूँजी के अधिकार ने जन्म लिया जिसके मुताबिक व्यक्ति को परंपरा द्वारा आरोपित किसी भी सीमा से बेपरवाह होकर संपत्ति और मुनाफे के लिए प्रयास करने

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

की छूट मिल गई। सिद्धांत की दृष्टि से पूँजी का यह विनियोग श्रम के लाभों पर नियंत्रण करने के अनुबंधात्मक बंदोबस्त के तहत हुआ। चूँकि दो असमान व्यक्ति अनुबंध नहीं कर सकते थे, इसलिए अनुबंध की जरुरत के तहत व्यक्तियों को कानून की निगाह में बराबर मानना पड़ा। स्वाधीनता से समता की तरफ हुई इस यात्रा के परिणामस्वरूप अधिकारों का जन्म हुआ।[3] इसी संदर्भ में नये तरह के मूल्यों और आर्थिक कार्य–व्यापार से संबंधित जद्दोजहद से नागरिकता निकली। लेकिन, औपनिवेशिक संदर्भ में यह पूरा सिलसिला भंग हो गया। भारत में पूँजीवाद का विकास लगातार आधा–अधूरा रहा और औपनिवेशिक प्रभुत्व की मौजूदगी के कारण आधुनिकता विकृत हो गई। नतीजतन, पूँजीवाद और आधुनिकता भारत में नागरिकता के वाहक नहीं बन पाए। पश्चिम में जो लोकतांत्रिक सक्रियता जनवादी अधिकारों के सार्वभौमिकीकरण के नाम पर विकसित हुई थी, वह भारत में औपनिवेशिक शासन द्वारा थोपे गये लुटेरू शोषण और अधीनस्थ हैसियत के खिलाफ संघर्ष के चलते ही पैदा हो सकी।[4]

1947 में भारत को आजादी मिलने के बाद संविधान द्वारा हर व्यक्ति को विधिक और राजनीतिक नागरिकता के अधिकार दिये गये। पश्चिमी लोकतंत्रों में यह अधिकार लंबे अरसे तक चले नागरिक और राजनीतिक संघर्षों के बाद नसीब हुए थे। वहीं मजदूरों को वोट डालने और यूनियनें बनाने के हकों के लिए लड़ना पड़ा था। फिर स्त्रियों को भी वोट डालने और जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों से बराबरी के हकों के लिए लड़ना पड़ा। हालाँकि भारत के उपनिवेशवाद विरोधी और सामंतवाद विरोधी स्वाधीनता संघर्ष में लोकतांत्रिक अधिकारों और समता के लिए संघर्ष के पहलू थे, पर उनका केंद्रीय रूप मताधिकार के लिए चलाए जाने वाले आंदोलनों जैसा नहीं था। अपनी बात कहने में कुशल मध्यवर्गों, आधुनिक उद्योगों में कार्यरत मजदूरों और संघर्षशील किसानों के कुछ हिस्सों को छोड़ कर समाज के अन्य भागों द्वारा अधिकारों की माँग उस समय तक नहीं उठाई जा रही थी। जनसाधारण के बीच अधिकारों की आवश्यकता ही नहीं उभरी थी। इसीलिए, उन दिनों हमें लोकतंत्र के लिए संरक्षकों की जरुरत पड़ती थी और राष्ट्रीय आंदोलन से निकला हुआ नेतृत्व, चाहे सरकार में हों या विपक्ष में, लोकतंत्र के ट्रस्टी के रूप में काम करता था। अधिकारों की अहमियत का एहसास लोगों को धीरे–धीरे होना शुरू हुआ।[5] भारत में लोकतंत्र की यात्रा का महत्वपूर्ण आयाम जनता को नागरिकता प्रदान करना ही नहीं था, बल्कि नागरिकता के अधिकारों पर अमल को हकीकत का जामा पहनाना भी था।

लोकतांत्रिक विकास की कहानी हमें बताती है कि किसी एक देश–काल का इतिहास किसी दूसरे देश–काल में ठीक–ठीक दोबारा वैसा ही नहीं घटता। पश्चिम में लोकतंत्र का पहला आधुनिक अनुभव पूँजीवाद के उत्थान के दौरान हुआ था और उसका परिणाम वहाँ पहले से मौजूद समुदायों के धीरे–धीरे विघटन या विलुप्तीकरण में निकला था। समुदायों के विघटन का मतलब था गिल्ड या नातेदारियों द्वारा प्रदत्त जन्मना संबंधों के कमजोर होते चले जाने के जरिए लोगों का वैयक्तीयन होना।[6] ऐसे तमाम लक्षण परंपरा के दायरे में सीमित कर दिये गये, पर 'परिवार' की संस्था अपवाद रही, क्योंकि धर्म की भाँति उसकी परिभाषा आमूल–चूल ढंग से बदल डाली गई। परिवार पूरी तरह एक होकर छोटी इकाई में बदलता चला गया।

प्राक्–आधुनिक समुदायों के द्योतक गिल्ड और नातेदारी जैसे शब्द उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक यूरोप की शब्दावली से पूरी तरह गायब हो गये। अर्थात् समाज में रहने वाले व्यक्ति और राज्य की संस्था के बीच में कोई नहीं रह गया। कुछ दार्शनिकों ने इसे एकाकी अस्तित्व की संज्ञा दी है, पर इस एकाकीपन से निजी तौर से पार पाया जा सकता था। व्यक्ति अगर चाहे तो अपने पड़ोस में, अपने काम की जगह पर और ऐसी ही अन्य स्थितियों में समान सरोकारों के आधार पर समुदाय से मिलता–जुलता समूह बना सकता था। ऐसे समूहों को *स्वनिर्मित समुदायों* की संज्ञा देना ठीक होगा। चूँकि ये स्वनिर्मित समुदाय जातिगत समूहों या धार्मिक जत्थेबंदियों की भाँति पहले से मौजूद नहीं थे, इसलिए एकाकी व्यक्ति

को इनमें शामिल होते हुए भी ऊँचे स्तर को स्वायत्तता प्राप्त रहती थी। बिना किसी हस्तक्षेप का सामना किये बिना वह जैसा चाहे, वैसा बन सकता था। वह अपनी इयत्ता को पूरी तरह दोबारा बना सकता था और इस पुनर्निर्माण की प्रक्रिया पर पहले से मौजूद किसी समुदाय की निगरानी भी नहीं होनी थी। चूँकि इन परिस्थितियों में जीवन उसके लिए एक तरह से त्रास का स्रोत भी बन सकता था, इसलिए उस एकाकी व्यक्ति के लिए अधिकारों की दुनिया एकमात्र शरणस्थली में बदल गई। जिंदगी गुजारने की प्रक्रिया में दूसरों के अतिक्रमण से मुक्त अभयारण्य उसे अधिकारों की दुनिया में ही मिला।[7]

भारतीय समाज में जीवन पूर्व–स्थापित समुदायों और उनकी विशिष्ट संस्कृतियों के प्रभाव से काफी–कुछ घिरा हुआ था। इसका असर नागरिकों द्वारा अधिकारों के उपभोग पर पड़ना लाजिमी था। हालाँकि औपनिवेशिक विकास और दोहन के दौर ने इन समुदायों में कई तरह के परिवर्तन किए और फिर आधुनिकता की संगठित मुहिम के साथ–साथ आजादी के बाद विकसित हुए चुनावी लोकतंत्र ने भी उन पर परिवर्तनकारी असर डाला, पर वे आज भी जीवंत और सक्रिय हैं। दरअसल, औपनिवेशिक दौर में इन समुदायों की फिर से रचना हुई और उन्हें अवलम्ब प्रदान किया गया। यह सिलसिला आजादी के बाद भी जारी रहा। करीब ढाई सौ साल से अपने कर्मकांडों, आस्थाओं और संस्कृति के साथ ये समुदाय जीवित हैं, पर साथ ही उन्हें भीतरी स्तर पर गहरी तब्दीलियों से भी गुजरना पड़ा है और एक–दूसरे के साथ उनके संबंधों में भी जबरदस्त परिवर्तन हुए हैं। जाति की निरंतरता और धर्म के जहरीलेपन पर गौर करते हुए हम अक्सर इन परिवर्तनों पर पूरा ध्यान नहीं दे पाते। पहले ये समुदाय कर्मकांडीय दर्जे पर आधारित समूहों की तरह रहते थे और इनकी कोई राजनीतिक अहमियत नहीं होती थी। लेकिन आज इन समुदायों का वजूद जीवन के सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं को प्रभावित करने लगा है। इस प्रभाव के दायरे में लोकतांत्रिक कार्य–व्यापार के नियम, लोकतांत्रिक अधिकारों पर अमल और इस प्रकार नागरिकता का विकास भी आता है। इन समुदायों के प्रभाव की प्रकृति की जाँच करने पर हमारे सामने साफ हो जाएगा कि अमेरिका और फ्रांस जैसे देशों के मुकाबले भारत में नागरिकता की प्रकृति कितनी अलग है। नागरिकता को दोनों परिस्थितियों में कई अभिभूतकारी अंतर है, पर जरुरी नहीं कि ये सभी अंतर स्वागतयोग्य ही हों।

औपनिवेशिक दौर में अस्मिता और नागरिकता का विकास

शहरीकरण, उद्योगीकरण और आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने धीरे–धीरे जातियों को उनके कर्मकांड– आधारित ऊँच–नीच की जकड़ से मुक्त कर दिया है। आधुनिक राजनीति के क्षैतिज धरातल पर सत्ता के लिए होड़ करती हुई जातियाँ कौटुंबिक समुदाय के रूप में जीवित रह गयी हैं। इसमें आरक्षण की नीति ने प्रमुख भूमिका निभायी है। दरअसल, आरक्षण ने विभिन्न जातियों की भागीदारी वाले व्यापक और बड़े–बड़े सामाजिक समूहों को जन्म दिया है। जाति–व्यवस्था में हुए इस परिवर्तन से भारतीय मध्यवर्ग में बड़े पैमाने पर निचली जातियों के प्रवेश का रास्ता खुल गया है। मध्यवर्ग का यह नया रूप भारतीय लोकतंत्र के लिए एक निर्णायक परिघटना है जिसके कारण लोकतंत्र की गहनता को एकदम नया तात्पर्य और नयी प्रकृति मिली है।

ध्यातव्य है कि औपनिवेशिक विमर्श के जरिये ब्रिटिश राज को विभिन्न जातियों द्वारा कर्मकांडीय श्रेणीक्रम में अपनी स्थिति से जुड़े दावों को निपटाने का एक माध्यम और एक तरह का वैध प्राधिकार मिल गया। जातियों की परिगणना और उनके नृवंशीय वर्णनों को राज्य द्वारा जमा करने के दौरान यह जानकारी भी प्रकाश में आया कि परंपरागत श्रेणीक्रम में किस प्रकार कुछ जातियों को सामाजिक और आर्थिक लाभ मिल रहा है और कुछ को नहीं। इसका नतीजा यह हुआ कि कई जातियाँ शैक्षणिक और व्यवसायिक लाभों के साथ–साथ राजनीतिक प्रतिनिधित्व के मामले में राज्य से विशेष मान्यता पाने की माँगें करने लगीं। इस बिंदु पर औपनिवेशिक राज्य ने दोहरी भूमिका अपनायी। एक तरफ वह ब्राह्मणों के भी ब्राह्मण की तरह पारंपरिक श्रेणीक्रम में हैसियत के लिए विवादरत जातियों का दर्जा निर्धारित और पुनर्निर्धारित करने लगा और दूसरी तरफ

वह एक न्यायप्रिय और आधुनिक शासक भी बना रहा जो अपनी कमजोर और गरीब प्रजा के अधिकारों और आकांक्षाओं को मान्यता भी देना चाहता था। इस दोहरी भूमिका से ब्रिटिश राज्य अपने औपनिवेशिक शासन द्वारा निर्धारित शर्तों और तौर–तरीकों के आधार पर संगठित होने लगे ताकि जाति अस्मिताओं के तौर पर राजनीति में अपने हितों को प्रतिनिधित्व दे सके और अर्थतंत्र में भागीदारी कर सके।

कुल मिलाकर औपनिवेशिक विमर्श ने न केवल जाति पर एक नया विमर्श शुरू किया बल्कि जाति–व्यवस्था में ही कुछ परिवर्तनों का श्रीणेश कर दिया। हालाँकि इन परिवर्तनों का एक बड़ा हिस्सा सायास न होकर अप्रत्यक्ष और औपनिवेशिक नीतियों का फलितार्थ था। ये परिवर्तन आधुनिकीकरण, जाति–सेकुलरीकरण और शहरीकरण की उन कहीं व्यापक ऐतिहासिक शक्तियों के परिणाम थे जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में भारतीय समाज पर अपना असर छोड़ना शुरू कर दिया था। लेकिन औपनिवेशिक शासन की कुछ खास नीतियों ने जाति–व्यवस्था पर सीधा असर भी डाला। परंपरागत रूप से समाज पर हावी प्रभुवर्ग की सत्ता का क्षय करनेवाली इन नीतियों का लक्ष्य था ब्रिटिश शासन द्वारा अपने शासन के लिए समर्थन–आधार निर्मित करना। जैसे–जैसे औपनिवेशिक शासन अपने अंतिम दौर की तरफ बढा, वैसे–वैसे इस तरह की नीतियों ने व्यापक ऐतिहासिक शक्तियों के साथ मिल कर जाति–व्यवस्था में गहरे और दूरगामी परिवर्तनों को अंजाम दिया।[8]

इन परिवर्तनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण था 'निचली जातियों' के बीच एक नये किस्म की अस्मिता का उदय। यह अस्मिता स्थानीय सीमाओं से परे जाकर निचली जातियों में परंपरागत श्रेणीक्रम द्वारा उत्पीड़ित किये जाने की सामूहिक चेतना पैदा करती थी। इस चेतना के जन्म से पहले समाज पर हावी कर्मकांडीय श्रेणीक्रम के लिए अधिकारों का विमर्श अपने आपमें एक अजनबी चीज थी। जाति–व्यवस्था के संदर्भ में अधिकारों का विमर्श इस प्रक्रिया में पहली बार सामने आया। इसी के बाद 'सामाजिक न्याय' जैसे विचारधारात्मक आग्रह ने कर्मकांडीय शुद्धता और अशुद्धता के सामने सवाल खड़े करने शुरू किये। कर्मकांडीय शुद्धता के विचार के तहत ही ऊँच–नीच की परंपरागत प्रणाली आनुवंशिकता को आधार बना कर संपत्ति का अधिकार प्रदान करती थी या फिर वंचितों की स्थिति में रहने के लिए अभिशप्त कर देती थी। धीरे–धीरे स्थापित कर्मकांडीय श्रेणियों के मुकाबले 'उत्पीड़ित वर्गों' और 'उत्पीड़ित जातियों' जैसी नयी श्रेणियाँ खड़ी होने लगीं।[9]

दूसरा परिवर्तन यह था कि कमोबेश एक जैसे दायरों और विभिन्न स्थानीय श्रेणीक्रमों में स्थित कई जातियों ने खुद को विस्तृत रूप में संगठित करना प्रारंभ किया। इस प्रक्रिया के गर्भ से क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर के संगठन और संघ निकले। इन जातियों के लिए ऐसा करना लगातार जरुरी होता जा रहा था क्योंकि उन्हें राज्य के साथ अपने हितों के समाधान के लिए बातचीत करनी थी और उस दौरान अपनी व्यापक सामाजिक अस्मिता और संख्यात्मक शक्ति का दावा पेश करना था।[10]

तीसरा परिवर्तन निचली जातियों द्वारा उच्चतर सामाजिक दर्जा प्राप्त करने का आंदोलन था। जाति–व्यवस्था के इतिहास में यह कोई नयी बात नहीं थी पर नये संदर्भों में इसने एक नया गुणात्मक आयाम प्राप्त कर लिया। इस आंदोलन ने जाति के कर्मकांडीय श्रेणीक्रम के विचारधारात्मक आधारों पर ही हमला करना शुरू किया। यह अतिक्रमण बौद्ध और भक्ति आंदोलन की भाँति एक तरह का आंतरिक विद्रोह न होकर न्याय और समता की भाषा में आधुनिक विचारधारात्मक रूप लिये हुए था।

औपनिवेशिक शासन के दौरान जाति–व्यवस्था में हुए परिवर्तन भारत को आजादी मिलने के बाद काफी तीव्र हो गये। उदार लोकतांत्रिक राज्य की स्थापना और स्पर्धात्मक प्रतिनिधित्वमूलक लोकतंत्र के विकास के साथ इन परिवर्तनों की रूपांतरकारी धार तीखी हो गयी और उन्होंने नये आयाम ग्रहण कर लिये। इस प्रक्रिया ने परंपरागत को जन्म दिया।[11]

हालाँकि भारत को आजादी मिलने के बाद भी ऊँच–नीच की समाज–व्यवस्था में कई गुणात्मक परिवर्तन हुए, लेकिन उनकी व्याख्या उसी पुरानी औपनिवेशिक विचारधारा के मुताबिक मूल्य–निर्धारक शैली में की जाती रही। चाहे जाति का अध्ययन करनेवाले समाजशास्त्री हों या भारत को जातिविहीन समाज बनाने का आग्रह रखनेवाले समाज–सुधारक और चिंतक हों, सभी ने इन परिवर्तनों का वर्णन औपनिवेशिक विमर्श से प्राप्त शब्दावली और विचार– श्रेणियों में किया। इसके कारण जाति–व्यवस्था में आये परिवर्तनों के बारे में दो परस्पर विपरीत विचार उभरे। दरअसल ये दोनों विचार एक–दूसरे के बरक्स खड़े थे। इनमें से एक विचार ने उन संरचनागत और सांस्कृतिक निरंतरताओं पर जोर दिया जिनकी अभिव्यक्ति आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में हुई थी। यह विचार आजादी के बाद हुए जाति–संबंधी अध्ययनों पर अधिकांशतः हावी रहा है।

लोकतंत्र की गहनता और नागरिकता के प्रश्न

इस घटनाक्रम ने अधिकारों के संदर्भ में नए किस्म की दावेदारियों को जन्म दिया है जिनका असर *नागरिकता* के प्रश्न पर पड़ना लाजमी है। भारतीय राजनीति में पिछले कुछ वर्षों से सामुदायिक आधार पर अधिकारों के दावे बढ़ते जा रहे हैं। यह जाँचने से पहले कि इस तरह के दावों का आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों में क्या आधार है, इस तथ्य पर एक नजर दौड़ाना प्रासंगिक जान पड़ता है कि भारतीय संविधान का रवैया क्या था। भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों की संस्कृति और अस्मिता की सुरक्षा के लिए मूल अधिकारों का प्रावधान है। उसने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों जैसे कमजोर वर्गों की हिफाजत के लिए कुछ विशेष प्रावधान किए हैं जिनके तहत उन्हें शिक्षा संस्थानों और सरकारी नौकरियों में आरक्षण दिया गया है। यही अधिकार दलितों और आदिवासियों के मुकाबले कुद सीमित रूप से पिछड़ों को दिया गया है। इसके दायरे में जुलाहों, नाइयों और चंद किसान–श्रेणियों में आने वाले कुछ मुसलमान समुदाय भी आते हैं। इस प्रकार संविधान हमें आम नागरिकों को दिये गये सार्वभौम अधिकारों के अलावा अधिकारों की एक भिन्न योजना और अनुसूची भी मुहैया कराता है।

इस ब्योरे से साफ है कि संविधान में सार्वभौम अधिकारों के अलावा और उनके ऊपर समूहों और समुदायों के लिए अलग–अलग अधिकारों का प्रावधान मौजूद है,[12] यानी संविधान में एक से ज्यादा तरह की नागरिकता का प्रावधान है। अधिकारों में भी भेद है, पर इसके बावजूद यह देखना जरुरी है कि समुदाय विशेष के अधिकारों और सार्वभौम अधिकारों के बीच किस तरह का सूत्र है। इस बात का सावधानी से विश्लेषण करना होगा कि क्या समूहगत अधिकार सार्वभौम अधिकारों के उपभोग का रास्ता खोलते हैं या उसे बाधित करते हैं?

पश्चिम में नागरिकता का सिलसिलेवार विकास अधिकारों की तितरफा गति के संदर्भ में हुआ था। शुरुआत ***नागरिक अधिकारों*** से हुई जिन्हें सबसे पहले मान्यता मिली और फिर धीरे–धीरे ***राजनीतिक अधिकारों*** के विस्तार की तरफ कदम बढ़े, जिसकी चरम परिणति करीब दो सौ साल बाद सार्विक मताधिकार में हो पाई। जनता ने नागरिक और राजनीतिक अधिकारों का इस्तेमाल न्यूनतम आय और सेवाओं की गारंटी करने वाले ***'सामाजिक' अधिकारों*** की दावेदारी के लिए किया जिसके परिणामस्वरूप लोकोपकारी प्रावधान किए गये।[13] ये तीनों निजी अधिकार बड़े पेचीदा तरीके से परस्पर जुड़े हुए हैं और एक–दूसरे को उन्नत करते हैं, एक–दूसरे का मार्ग प्रशस्त करते हैं और एक–दूसरे को संयमित करते हैं। लेकिन, सम्पत्ति के अधिकार के सवाल पर तनाव और अंतर्विरोध मौजूद हैं।व्यक्तिगत अधिकारों की प्रवृत्ति अगर अपने विस्तार और अधिक सार्थक दावेदारियों की तरफ हैं तो सम्पत्ति संबंधी अधिकार की आंतरिक गतिशीलता विस्तार को रोकने के पक्ष में है। यहाँ तक कि इस प्रवृत्ति के कारण कभी–कभी व्यक्तिगत अधिकार भी पीछे धकेल दिये जाते हैं।

सम्पत्ति के अधिकार की आंतरिक दिशा अन्य व्यक्तिगत अधिकारों के विपरीत है। अन्य सभी अधिकार सामाजिक और राजनीतिक जीवन को खोलते हुए उसे बेहतर जवाबदेही की तरफ ले जाते हैं। लेकिन, सम्पत्ति के अधिकार को आर्थिक रूप से मूर्तिमान करने वाली व्यावसायिक कंपनियाँ और कार्पोरेशन व्यक्तिगत अधिकारों को सीमित करने की कोशिश

करते हैं ताकि सार्वजनिक जवाबदेही से बचा जा सके। उनके लिए मुनाफा जवाबदेही के ऊपर प्राथमिकता प्राप्त कर लेता है। कार्पोरेशनों को गारंटी करनी पड़ती है कि नागरिक और राजनीतिक अधिकारों का उपभोग और नागरिकों की सामाजिक दावेदारी बड़े पैमाने पर देशी मूल्य के विनियोग में बाधक न बन पाए। पूँजीवादी सम्पत्ति में अंतर्निहित इन अंतर्विरोधों ने एकतरफ पश्चिम में लोकोपकारी राज्य के विघटन का दबाव पैदा किया और दूसरी तरफ भारत जैसी तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं को अपना जबरन भूमंडलीकरण करने की तरफ धकेला।[14] सम्पत्ति के इस अधिकार को छोड़ कर अन्य सभी अधिकारों का सहअस्तित्व न केवल संभव है, बल्कि वे अक्सर साथ–साथ रहते भी हैं। भले ही उनमें पूरी संगति न रह पाती हो, पर उनका आपसी टकराव तालमेल की संभावनाओं से युक्त रहता है।

भारत में व्यक्तिगत सार्वभौम अधिकारों की समस्या दूसरे किस्म की है। आजादी मिलने के साथ ही नागरिक और राजनीतिक अधिकार सभी व्यक्तियों को प्रदान कर दिये गये थे। यहाँ सवाल उनके विस्तार का नहीं है, बल्कि लड़ाई यह है कि बेतहाशा गरीबों, निरक्षरता और सामाजिक पिछड़ेपन के हालात में उनका बेहतर से बेहतर उपभोग कैसे किया जाए। भारत में समस्या तो व्यक्तिगत और समूहगत अधिकारों के बीच संबंधों के बारे में स्पष्टता की कमी की है। ये उलझनें हल करने के तौर–तरीके भी हमारे पास नहीं है। इन अधिकारों के बीच अक्सर टकराव होता रहता है। जब निजी दावे सामुदायिक प्राथमिकताओं के अंतर्विरोध में चले जाते हैं, तो व्यक्तिगत स्तर पर लोगों को बेहद खराब नतीजे झेलने पड़ते हैं।

समुदाय आधारित राजनीति ने जनता को दो तरह से अधिकार संपन्न किया है। भारतीय लोकतंत्र के शुरुआती दशकों में कुछ कमजोर समुदायों को वोट डालने ही नहीं दिया जाता था। लेकिन, सबलीकरण की अभिव्यक्ति के रूप में दलित राजनीति ने पहली बार कमजोर समुदायों को उनकी अपनी पसंद के अनुसार वोट देने का मौका प्रदान किया। दूसरे, सबलीकरण के चलते ही कमजोर वर्ग अब संरक्षण के उन नेटवर्कों के मेहताज नहीं रह गए जिनके तहत उन्हें उस समय तक अपने उम्मीदवार खड़े करने का अवसर नहीं मिलता था जब तक वे प्रभुत्वशाली समूहों के पाले में जाने के लिए अथवा उनकी पसंद के मुताबिक वोट देने के लिए तैयार न हो जाएँ। ऐसे नेटवर्क अगर पूरी तरह खत्म नहीं हुए हैं, तो काफी कमजोर अवश्य हो गये हैं।[15] वास्तविक मताधिकार से संपन्न होने और साथ में सबलीकरण की यह प्रक्रिया किसी एक इलाके तक सीमित न होकर सारे देश में फैली हुई है।

इन अर्थों में कहा जा सकता है कि समुदाय आधारित राजनीति ने लोकतंत्र के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कम से कम इस दायरे में तो अब नागरिकता के अधिकारों का बेहतर उपभोग हो पा रहा है। यहाँ ध्यान रखने वाली बात यह है कि सामुदायिक राजनीति के एक अन्य रूप हिंदुत्व की भूमिका इस संदर्भ में सकारात्मक नहीं है।[16] अन्य धार्मिक संप्रदायों पर हिंदुओं के प्रभुत्व के लिए संघर्ष कर रही यह सामुदायिक राजनीति उनलोगों के अधिकारवंचन के पक्ष में है जिनकी राष्ट्र के प्रति वफादारी वह संदिग्ध समझती है। हिंदुत्व का दाँव यह है कि वह गैर–हिंदू संप्रदायों को वोट डालने से रोकने के बजाय किसी न किसी प्रकार राजनीति में उनकी आवाज बंद कर देना चाहता है। उसकी तरफ से मुसलमानों को अक्सर राष्ट्र विरोधी बताया जाता रहता है। 2014 में भाजपा के सत्ता में आने के बाद से ईसाइयों को भी उनकी मिशनरी गतिविधियों के संदर्भ में शक के दायरे में लाया जा रहा है।

लेकिन, इस प्रक्रिया का एक दूसरा पक्ष भी है जो मसले को पेचीदा बना देता है। अपनी संस्कृति और आस्था को लेकर चल रहे ये समुदाय अपने लिए समूहगत अधिकारों की माँग करते हैं, लेकिन अगर कोई व्यक्ति उन्हें सामुदायिक अधिकारों के खिलाफ जाता हुआ दिखता है या समुदाय की अस्मिता के लिए अभिन्न समझे जाने वाले किसी सांस्कृतिक पहलू अथवा नैतिक संहिता को चुनौती देता हुआ दिखता है तो फिर वे उस व्यक्ति को कई तरह के अधिकारों से वंचित कर देते हैं। समुदाय की इज्जत के नाम पर व्यक्तियों के साथ क्रूरता का व्यवहार करने की मिसालें अनगिनत हैं। चाहे समुदायगत मानकों

के खिलाफ जाकर अपनी पसंद से शादी करने का सवाल हो, कुछ खास तरह के कर्मकांडों का प्रश्न हो, कुछ विवादास्पद मुद्दों पर अलग राय रखने का अधिकार हो या फिर पोशाक पहनने का तरीका ही हो, समुदाय की सत्ता बड़ी बेरहमी से व्यक्ति का दमन करती है। सामूहिक शख्सियत के रूप में ये समुदाय पूरी ताकत से व्यक्ति के निजी व्यवहार और नैतिकता पर लगाम कसते हैं।

दरअसल चाहे कोई धर्म हो, या कोई जाति हो, भारत में ऐसा कोई भी समुदाय नहीं है जिसमें लैंगिक समता की धारणा उसूलन ही मानी जाती हो। दुनिया भर के सभी समाजों में बड़ी सफाई से लैंगिक भेदभाव के हथकंडे अपनाए जाते हैं, पर लैंगिक समता का समुदायगत अस्वीकार उससे अलग किस्म का है। समुदाय स्त्री को किसी भी किस्म की पहलकदमी की गुंजाइश नहीं देते। स्त्रियाँ अपने समय अथवा काम को अपने हिसाब से विनियमित करने के लिए स्वतंत्र नहीं होतीं, अपनी देह या सेक्सुअलिटी पर उनके नियंत्रण की बात तो छोड़ ही दीजिए। समाज में लोकतांत्रिक सिद्धांतों और समतामूलक मूल्यों के विस्तार के साथ ही स्त्रियाँ निजी तौर से और अपने संगठनों के जरिए व्यक्तिगत (नागरिक और राजनीतिक) अधिकारों की माँग बड़े पैमाने पर उठा रही है। इन अधिकारों का उपभोग भी बढ़ रहा है। इसके जवाब में सामूहिक शख्सियतों के रूप में समुदायों की तरफ से उनके खिलाफ बेहद आक्रामक रवैया अपनाया जा रहा है।[17] कुछ मामले तो इस हद तक चले गये हैं कि जाति पंचायतों ने सामुदायिक रीति–रिवाजों के उल्लंघन का बदला लेने के लिए स्त्री को समूहगत बलात्कार का दंड तक दिया है। यही कारण है कि अधिकतर स्त्री संगठन समूहगत अधिकारों को शक की निगाह से देखते हैं। लेकिन, समुदायगत अधिकारों के इस नकारात्मक पहलू के नाम पर किसी समूह को अधिकारों से वंचित करना भी उचित नहीं माना जा सकता।

निष्कर्ष

हमें ध्यान रखना होगा कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही अधिकारों का अधिकतर विस्तार सामूहिक दायरों में ही हुआ है। उदाहरण के लिए ट्रेड यूनियन के अधिकारों को लिया जा सकता है जिसके तहत मजदूर समूह के रूप में हड़ताल पर जा सकते हैं जबकि अगर कोई मजदूर व्यक्तिगत रूप से ऐसा करता है तो उसे छुट्टी या काम से गैरहाजिरी समझा जाता है। इसी तरह अगर धरना देने का अधिकार अगर सामूहिक रूप से इस्तेमाल न किया जाए तो उसे गुंडागर्दी या शांतिपूर्ण आवागमन में बाधा डालना समझा जाएगा। लोकोपकारी अधिकारों के अधिकार का उपभोग भी तभी हो सकता है जब कोई व्यक्ति किसी समुदाय में पैदा हुआ हो। जाहिर है कि मौजूदा हालात में लोकतंत्र के सार्थक विस्तार और उसकी गहनता के लिए मुहैया कराए गए समूहगत अधिकारों के सिलसिले में लोकतांत्रिक आंदोलन को ऐसे तौर–तरीके खोजने होंगे जिनके माध्यम से समुदायों के भीतर असहमत व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा की जा सके।

राजनीति में सामुदायिक ताकत खुद का मुजाहिरा बड़े पेचीदा ढंग से करती है। इसलिए इस मामले में कोई फैसला देना आसान नहीं होता। संस्थागत स्तर पर लोकतंत्र को ठीक से चलाने के लिए सामुदायिक ताकत कुछ अधिकारों के उपभोग की गारंटी करती है। लेकिन, साथ ही व्यक्तिगत स्तर पर इंसान की संभावनाओं के पूरे दोहन के लिए जरुरी अधिकारों को सामुदायिक ताकत द्वारा नकारा भी जाता है। लोकतंत्र को चलाने में मदद देकर सामुदायिक ताकत नागरिक समाज को पुष्ट करने वाली गतिविधियों और पहलकदमियाँ मजबूत करती है। लेकिन कई व्यक्तिगत अधिकारों में बाधा डालकर नागरिक समाज की उस स्वायत्तता का क्षय करती है जिसके तहत वह व्यक्ति के अधिकारों के अतिक्रमण को रोकता है। यह भी सही है कि बिना एक जीवंत नागरिक समाज के उस उदारतावादी समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती जो पूँजीवादी सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता देता हो। नतीजे के तौर पर भारत में नागरिक समाज का यह विरोधाभास देखा जा सकता है जिसके मुताबिक उसका एक साथ विस्तार भी हो रहा है और क्षरण भी।

सन्दर्भ सूचीः–

1. जावीद आलम, हू वान्ट्स डिमोक्रेसी, ओरियंट लॉंगमैन, न्यू दिल्ली, 2004.
2. कालू एन.कालू, सिटिजनशिप : आइडेनटिटी इंस्टिट्यूशन्स एंड द पोस्ट मॉडर्न चैलेंज, रूटलेज, लंदन, 2016, पृ. 68.
3. उपरोक्त, पृ. 71.
4. धीरुभाई सेठ, *सत्ता और समाज,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ0–141.
5. उपरोक्त.
6. आरनित सहनी, हाऊ इंडिया बीकेम डिमोक्रेटिक : सिटिजनशिप एंड द मेकिंग ऑफ द यूनिवर्सल फ्रेंचाइज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2017.
7. जावीद आलम (2007), पूर्वोक्त.
8. मार्क गैलेंटर, ''रिफॉर्म, मोबिलिटी एंड पॉलिटिक्स अंडर ब्रिटिश रूल'' *कंपीटिंग ईक्वालिटीज, लॉ एंड बैकवर्ड क्लासेज इन इंडिया,* ऑक्सफोर्ड, दिल्ली 1994, पृ0 18–40.
9. ऐल ऑम्बेड्ट, *कल्चरल रिवोल्ट इन ए कोलोनियल सोसाइटी– द ननब्राह्मण मूवमेंट्स इन वेस्टर्न इंडिया* 1873, टू 1930, साइंटिफिक सोशलिस्ट एडुकेशन ट्रस्ट, बंबई, 1976.
10. यूजेन फ्लेश्क, *पॉलिटिक्स एंड सोशल कंफ्लिक्ट इन साउथ इंडिया, द नॉनब्राह्मण मूवमंट्स एंड तमिल सेपरेटिज्म* 1916– 1929, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, बर्कले, 1969.
11. ए.एम. शाह, ''ए रिस्पांस टू द क्रिटिक ऑन डिविजन एंड हीरार्की'', संकलित : ए.एम. शाह और आई.पी. देसाई, *डिविजन एंड हीरार्की एन ओवरव्यू ऑफ कास्ट इन गुजरात,* हिंदुस्तान पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, दिल्ली, 1988, पृ0–92–133.
12. लायन कानिंग, कल्चरल सिटिजनशिप इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड, न्यू दिल्ली, 2016.
13. कालू एन कालू (2016), पूर्वोक्त, पृ. 76.
14. नीरा चंडोक (2003), पूर्वोक्त.
15. अनरित सहनी (2017), पूर्वोक्त.
16. रोमिला थापर (2021), पूर्वोक्त.

××××